International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

ब्रिटिश कालीन भारत में सामाजिक विधान और नारी एक अध्ययन

शर्मिला यादव*

सारांश

प्राचीन काल में भारतीय समाज में स्त्रियों का बहुत सम्मान होता था। उन्हे विभिन्न प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। परन्तु धीरे – धीरे उतरवैदिक काल के आते – आते उन की स्थिति में गिरावट आनी आरम्भ हो गई। मध्यकाल में नारी की स्थिति में महान परिवर्तन हुए, उन को चार दीवारी में ही रहना पडता था। इस प्रकार अग्रेजों के आगमन तक स्त्रियों की स्थिति नाजुक हो गई। उन्हे पुरुषों से हीन समझा जाने लगा और कदम – कदम पर उन्हे समाज की रुढिवादी विचार धाराओं का शिकार होना पडता था। उन्हे विभिन्न प्रकार के सामाजिक और नैतिक दायित्वों को पूरा करना होता था। इस प्रकार उन्हे बेटी बन कर माता पिता की बातों का पालन करती थी तों शादी के बाद अपने पति की इच्छा एवं उस के हितों की पूर्ति के लिए अपना समस्त जीवन समर्पित कर देती थी। 18वी शताब्दी के समाज में बाल विवाह, कन्या हत्या, बहु विवाह, सती प्रथा, विधवा को पुनर्विवाह की अनुमति ना देना जैसी अमानवीय बुराईयॉ प्रचलित थी। इस से उन की स्थिति दिन प्रतिदिन गिरती जा रही थी। इसी समय भारतीय समाज में एक ऐसा बुद्धिजीवी मध्यवर्ग उभर कर सामने आया जो सामाजिक और धार्मिक परिवर्तन द्वारा आधुनिक भारत का निर्माण करना चाहते थे। इसी वर्ग के सहयोग से ब्रिटिश सरकार ने भारत में कुछ सुधारवादी कानून बनाये । इन सामाजिक विधानों का नारी की स्थिति में सुधारों के नजरियें से अत्यधिक महत्व है।

नारी के लिए पारित ब्रिटिश कालीन विधान

भारत में सामाजिक विधानों का सामाजिक परिवर्तन एवं सुधार के दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्व है। अज्ञानता, घोर अंधविश्वास, मबुवादी सामाजिक मूल्य एवं जाति पर आधारित समाज में अनेक कुरीतियां रही है।[1] 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रिटिश सरकार ने अपने अधीन भारतीय लोगों के धर्म तथा समाज में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई थी, जिसमें कि भारतीय उसे उनके धर्म एवं समाज का विनाशक समझने की आशंका न करे तथा वे ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादार बने रहे। किन्तु कालान्तर में 19वीं शताब्दी के मध्य तक अंग्रेजी शिक्षा एवं भाषा के प्रभाव से भारतीय समाज में एक ऐसा बुद्धिजीवी मध्यवर्ग विकसित हो गया जो सामाजिक एवं धार्मिक परिवर्तन द्वारा आधुनिक भारत का निर्माण करना चाहता था।[2]

इस प्रकार 19वीं शताब्दी में समाज सुधार आंदोलनों के कारण धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों एवं अंधविश्वासों के प्रति जनमत बना तथा उसके निवारण हेतु अंग्रेजी शासकों द्वारा कानून बनाए गये। सुधारवादी आंदोलनों का नेतृत्व समाज के नवीन बुद्धिवादी मध्यम वर्ग द्वारा किया गया। इस वर्ग ने तत्कालीन सामाजिक जीवन में व्याप्त कुरीतियों एवं

*** शोधछात्रा, इतिहास विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक।**

अंधविश्वासों की चरम सीमा से क्षुब्ध होकर सुधार हेतु प्रेरणा ली। 19वीं शताब्दी में भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति और इस स्थिति में सुधार हेतु दिए गए प्रयास तथा उसके प्रभाव का विवेचन किया जाना अपेक्षित है।[3]

सुधारकों का ध्यान सबसे पहले स्त्रियों की दशा सुधारने की ओर गया। स्त्रियों की दयनीय दशा का इतिहास लम्बा था। सदियों के शोषण एवं अत्याचार के कारण वे इस दुर्दशा में पहुंची थी। इसके लिए कई तत्व जिम्मेदार थे। व्यक्तिगत कानून और धार्मिक प्रथाओं ने स्त्रियों को समाज में बहुत ही निम्न स्तर दे रखा था। निम्नवर्गीय औरतों से खराब हालत उच्चवर्गीय औरतों की थी। परम्परागत दृष्टि से औरतों की माँ और पत्नी के रूप में प्रायः प्रशंसा की जाती थी, लेकिन व्यक्ति के रूप में समाज में उनका स्थान बहुत नीचे था। उन्हें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं थी, न उन्हें अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का अधिकार ही था। उदाहरण के लिए, हिन्दुओं में औरत केवल एक बार विवाह कर सकती थी। जब कि हिन्दू पुरुष को इच्छानुसार कितनी ही बार विवाह की स्वतन्त्रता थी। पुरुषों के लिए बहु–विवाह की प्रथा मुसलमानों में भी मान्य थी। औरतों को पर्दे में रहना पड़ता था और लड़कियों की बहुत कम उम्र में किसी भी उम्र के लड़के के साथ शादी कर दी जाती थी। इससे विधवाओं की संख्या बढ़ती गई; पर विधवाओं को पुनर्विवाह करने का अधिकार नहीं था। इतना ही नहीं, विधवाओं को अपने मृत पति की लाश के साथ ही जल जाना अच्छा माना जाता था।[4] इस प्रकार स्त्रियों की स्थिति दिन–प्रतिदिन गिरावट की तरफ जा रही थी। अब भारत के बुद्धिजीवी वर्ग के लोगों जैसे राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द, ईश्वरचंद विद्यासागर के सहयोग से अंग्रेजों ने सुधारों की तरफ ध्यान दिया और इनके द्वारा पारित किये गये विधानों में नारी की मुक्ति के लिए किये गये सुधार महत्वपूर्ण स्थान रखते है। ब्रिटिश सरकार ने जिन सुधारों को नारी के लिए पास किया, उन का वर्णन इस प्रकार हैं–

1. सतीप्रथा निषेध एक्ट (1829)

सन् 1829 से पहले भारत में सती प्रथा अत्यधिक प्रचलित थी। सती प्रथा का रूप इतना कटू और अमानवीय थी, इसका प्रचलन सभ्य समाज में कैसे हुआ? वास्तव में यह आश्चर्य का विषय है। फिर भी इसका राजनीतिक और सामाजिक आधार अवश्य था। भारत में मुस्लिम आक्रमणकारियों के आने के बाद हिन्दुओं में रक्त की शुद्धता या पवित्रता को बनाये रखने की समस्या काफी गंभीर हो गयी थी। चूंकि मुसलमानों को सामान्य हिन्दू स्त्रियों से तथा हिन्दू विधवाओं से भी विवाह करने में कोई आपत्ति नहीं थी, इस कारण एक ओर बालविवाह का प्रचलन काफी बढ़ गया था और दूसरी ओर विधवाओं को सलाह दी गयी कि अपने पति की चिता में जिन्दा जल कर मर जाने से उन्हें सीधा स्वर्ग मिलेगा। सती होना विधवाओं की इच्छा पर निर्भर न रहकर समाज के बड़े–बुजुर्गों के आदेश से चलता था। विधवा को मादक पदार्थ खिलाकर बेहोश करके उसे जबरदस्ती जलती हुई चिता में डाल दिया जाता था और अगर वह भागने की कोशिश करती तो बांसों के द्वारा कोस–कोस कर जिन्दा जलने को बाध्य किया जाता था। चिता को चारों तरफ से घेर कर लोग ढोल, नगाड़ा, शंख, घंटा इत्यादि के द्वारा शोर मचाते थे, जहाँ उस जलती हुई विधवा का समस्त हाहाकार और तड़पन उस शोर–शराबे के संगीत में डूब जाता था।[5]

ब्रिटिश शासन ने 1818 में सती प्रथा के उन्मूलन में रूचि दिखाई थी। प्रचार और अनुनयी तरीकों से रिवाज को रोकने में सफलता नहीं मिली। पुलिस भी प्रभावकारी प्रमाणित नहीं हुई। राजा राम मोहनराय ने इस सामाजिक बुराई को समाप्त करने का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लिया। उन्होंने घोषणा की कि सती के संस्कार का शास्त्रों में कोई उल्लेख नहीं है।[6] राजा राममोहन राय ने सती प्रथा पर पूरी ताकत से प्रहार किया। कम्पनी की सरकार ने सहयोग किया और 1829 में कानून द्वारा विधवाओं को जीवित जलाना बंद कर दिया गया तथा न्यायालयों को आदेश दिया गया कि वे ऐसे मामलों में सदोष मानव हत्या के अनुसार मुकदमा चलाएँ और अपराधी को दंड दे। प्रारम्भ में यह नियम केवल बंगाल के

लिए था। 1830 में इसे बम्बई और मद्रास में भी लागू कर दिया गया।[7] इस प्रकार सती प्रथा पर रोक लगी और स्त्रियों की कुछ कठिनाईयाँ दूर हुई।

2. बालिका हत्या निषेध अधिनियम

कन्या शिशु की हत्या का पहला उल्लेख हमें 1789 में सर जोनाथन डंकन के लेख में मिलता है। सर डंकन वाराणसी के आयुक्त थे। वे एक जाने–माने अध्यापक भी थे। वाराणसी के निवासियों का अध्ययन करते समय उन्हें यह पता चला कि वहां के 'राजकुमार' राजपूतों में कन्या शिशुओं की हत्या की प्रथा, वे कई पीढ़ियों से चलाते आ रहे हैं। जब इसका कारण पूछा गया तो 'राजकुमारो' ने बताया कि यह दहेज प्रथा और विवाह के भारी खर्चों की वजह से है। हत्या का तरीका यह था कि कन्या को पैदा होते ही वे उसे घर के पिछवाड़े छोड़ देते थे। वहीं पर वह भूख, गर्मी या सर्दी से मर जाती थी।[8] भारतीय और अंग्रेजी प्रबुद्ध व्यक्तियों ने इस घृणित प्रथा की बहुत आलोचना तथा निन्दा की और अंत में 1795 के बंगाल नियम XXI और 1804 के नियम 3 से शिशु हत्या को साधारण हत्या के बराबर मान लिया गया। भारतीय रियासतों के रेजिडेन्टों को भी कहा गया कि वे रियासतों में इस कुप्रथा को बंद करने के प्रयत्न करे। इसके पश्चात् भी 1870 में कुछ और कानून भी इन्हीं नियमों के पालन के लिए बनाये गये।[9] इस प्रकार इस निर्दयी प्रथा का अंत हुआ।

3. विधवा विवाह एक्ट (1856)

पं॰ ईश्वरचंद विद्यासागर ने विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए बड़ा आंदोलन किया। उन्होंने शास्त्रों से उद्धरण देकर यह सिद्ध किया कि उनमें पुनर्विवाह का निषेध नहीं है। बहुसंख्या में हस्ताक्षर एकत्रित किये गये और सरकार को प्रार्थना–पत्र भेजे गये। अंत में हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856 में पास हुआ जिसमें विधवा विवाह को वैध मान लिया गया और उस विवाह से उत्पन्न हुए बालक को वैध घोषित कर दिया गया।[10]

पश्चिमी भारत में प्रोफेसर डी॰के॰ कर्वे और मद्रास में वीरेसलिंगम पुण्टुलू ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किये। प्रोफेसर कर्वे ने जो फर्गूसन कॉलेज के प्राध्यापक थे, विधुर होने पर 1893 में स्वयं एक ब्राह्मण विधवा से विवाह किया। उन्होंने हिन्दू विधवाओं के उद्धार के लिए विशेष प्रयत्न किये। वह स्वयं विधवा पुनर्विवाह संघ के सचिव बन गए। उन्होंने पूना में 1899 में एक विधवा आश्रम स्थापित किया, जिसमें उच्च वर्ग की विधवाओं को अध्यापिका, डॉक्टर और नर्स बनाकर, उनके जीवन में एक नया उत्साह भरने का प्रयत्न किया। अंत में उन्होंने 1906 में बम्बई में भारतीय स्त्री विश्वविद्यालय स्थापित किया।[11]

4. बाल विवाह निषेध

सुधारकों ने बाल विवाह का भी विरोध किया। इसके फलस्वरूप 1872 में एक कानून नेटिव एक्ट पास किया गया, जिसमें 14 वर्ष से कम आयु की कन्याओं का विवाह वर्जित कर दिया गया तथा बहुविवाह को भी गैर–कानूनी घोषित किया गया। लेकिन यह कानून बहुत प्रभावशाली नहीं हो सका।[12]

कठोरतम व्यवस्था के कारण अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध थे, जिससे बहुविवाह, अनमेल विवाह आदि कुप्रथाएँ प्रचलित थी। 1872 ई॰ में श्री केशवचन्द्र सेन के आग्रह पर सरकार ने सिविल मैरिज एक्ट पारित किया, जिसके अनुसार अंतर्जातीय विवाह वैध हो गए। महिलाओं की स्वतन्त्रता एवं पुरुषों के समान अधिकार प्राप्ति की दिशा में इस अधिनियम से काफी प्रगति हुई और जाति–बंधन की कठोरता कुछ शिथिल हुई।[13]

अंत में एक पारसी सुधारक वी॰एम॰ मालाबारी के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1891 में सम्मति आयु अधिनियम पास हुआ जिसमें 12 वर्ष से कम आयु की कन्याओं के विवाह पर रोक लगा दी गई। 1931 में बडौदा की सरकार ने "दी इन्फैक्ट मैरिज प्रिवेन्शन एक्ट" (बाल विवाह निवारण अधिनियम) पास कर बालविवाह निषेध किया।[14]

1929 में बाल विवाह नियंत्रण अधिनियम (शारदा बिल) पारित किया गया। इस कानून के अन्तर्गत लड़की के लिए विवाह की आयु 14 और लड़के लिए 18 वर्ष निर्धारित की गई। यह कानून 1930 में लागू हुआ।[15] यह एक्ट हरविलास शारदा के प्रयत्नों से पास हुआ था।

5. स्त्री शिक्षा और ब्रिटिश कालीन भारत

19वीं शताब्दी में यह बात आम हो चुकी थी कि स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। परन्तु जब सतीप्रथा, बालहत्या, बहुविवाह, जैसी बुराईयों का खण्डन हुआ। वैसे ही स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार दिलाने पर सुधारकों ने जोर देना शुरू कर दिया। इसमें सबसे पहले प्रयास ईसाईयों ने किया।

ईसाई धर्म प्रचारकों ने 1819 में कलकत्ता तरूण स्त्री सभा स्थापित की। 1849 में बेथयून ने कलकत्ता में एक बालिका विद्यालय स्थापित किया। पं॰ ईश्वरचंद्र विद्यासागर का बंगाल में कम से कम 35 बालिका विद्यालयों से सम्बन्ध था। बम्बई में ऐलफिन्सटन इंस्टिच्यूट स्त्री शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। लेडी डफरिन निधि द्वारा महिलाओं को डॉक्टर, अस्पताल–सहायक, नर्स और दाईयों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। आर्य समाज ने भी इस क्षेत्र में बड़ा काम किया।[16]

20वीं शताब्दी और नारी

20वीं शताब्दी के आते–आते स्त्रियों की स्थिति में काफी सुधार हो चुके थे। क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलन में औरतों ने सक्रिय रूप से भाग लिया। उन्होंने क्रांतिकारी आंदोलनों में भी भाग लेना आरम्भ कर दिया। इसी के महिलाओं को अब राजनीति भागेदारी का हिस्सा बनाया गया। 1917 में एनी बेसेन्ट और 1925 में श्रीमती सरोजनी नायडू को कांग्रेस का सभापति चुना गया। अब 20वीं शताब्दी में आकर महिलाओं को पुरुषों के बराबर का अधिकार मिलना आरम्भ हो गया और महिला संगठनों की आवश्यकता महसूस हुई।

इस काल में 1904 में भारत महिला परिषद् स्थापित हुई और 1910 में भारत स्त्री महामण्डल, 1917 में महिला भारतीय संघ की स्थापना हुई और इन्होंने महिला सुधारकों की तरफ ध्यान दिया। वैसे देखा जाए तो नारी सुधारकों की तरफ पुरुषों ने महत्वपूर्ण प्रयास किये।

1920 के बाद खुद स्त्रियों ने भी अपने उद्धार की जिम्मेदारी संभाली। उन्होंने कई संगठनों एवं संस्थाओं की शुरूआत की जिनमें 1927 में "अखिल भारतीय महिला सभा" की स्थापना एक महत्वपूर्ण घटना थी। देश में नारी आंदोलन के उद्‌भव और विकास से नारी मुक्ति आंदोलन की प्रक्रिया बहुत तेज हो गई।[17]

इन सब संगठनों ने स्त्रियों की शिक्षा, पर्दा व बाल विवाह जैसी बुराईयों का उन्मूलन, हिन्दू अधिनियमों में सुधार, स्त्रियों की नैतिक व भौतिक प्रगति, स्त्रियों के अधिकारों एवं समता जैसे मसलों को उठाया। इस काल में नारी आंदोलन के दो मुख्य उद्देश्य थे– (1) स्त्रियों के उत्थान के लिए यानि सामाजिक रीतियों में सुधार कर स्त्रियों को समाज में रचनात्मक भूमिका के योग्य बनाना एवं (2) महिलाओं की पुरुषों के बराबर समान अधिकार दिलाना अर्थात् पुरुषों को मिले राजनैतिक एवं नागरिक अधिकारों को स्त्रियों को भी दिलाना।[18]

इस दौरान कई सामाजिक विधान भी पास किये जैसे 1937 में स्त्रियों को संपति का अधिकार मिला और इस तरह से नारी मुक्ति का यह संघर्ष अपने मुकाम पर पहुँचा और नारियों ने घर की चारदीवारियों से निकल कर समाज में खुल कर सांस ली।

निष्कर्ष

इस प्रकार उपरोक्त प्रयत्नों से ब्रिटिश कालीन भारत में नारी स्थिति में ऐसे सुधार नजर आये, जो नारी की समाज में स्थिति को ऊंचा उठाने में सहायक सिद्ध हुए। परन्तु इसमें भारत के बुद्धिजीवी वर्ग ने भूमिका निभाई। वैसे भी 19वीं शताब्दी में उभरे सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों ने नारी को आत्म–सम्मान से जीने का हक दिलाया और इन सुधारों के द्वारा भारत में नारी की स्थिति में सामाजिक परिवर्तन नजर आये, अब वे खुल कर जी सकती थी। अब वे घर की चारदीवारी से निकल कर समाज के हर क्षेत्र में अपना योगदान देने लगी। इस प्रकार भारतीय इतिहास में ब्रिटिशकालीन विधानों में नारी की स्थिति को सुधारने के लिए किये गये सुधारों का बहुत महत्व है।

पाद–टिप्पणी

1. सिंह, जे॰पी॰, *आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन,* पीएचआई लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2010, पृ॰ 231
2. सिंह, प्रताप, *आधुनिक भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास,* रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर पृ॰ 27
3. वही, पृ॰ 19
4. शुक्ल, रामलखन, *आधुनिक भारत का इतिहास,* हिन्दी माध्यम, कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2014, पृ॰ 365
5. सिंह, जे॰पी॰ *पूर्वोक्त,* पृ॰ 233
6. शर्मा, के॰एल॰, *भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन,* रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2012, पृ॰ 196
7. शुक्ल, रामलखन, *पूर्वोक्त,* पृ॰ 366
8. गथिया, जोसेफ, *भारत में बालिका : धर्म, हिंसा, क्षमता एवं परिवर्तन,* कन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, पृ॰ 42
9. ग्रोवर, बी॰एल॰, *आधुनिक भारत का इतिहास,* एस॰चन्द एंड कम्पनी लिमिटेड, नई दिल्ली, 2011, पृ॰ 282
10. महाजन, विद्याधर, *आधुनिक भारत का इतिहास,* एस॰चन्द एंड कम्पनी लिमिटेड, नई दिल्ली, 2014, पृ॰ 674
11. ग्रोवर, बी॰एल॰, *पूर्वोक्त,* पृ॰ 282
12. शुक्ल, रामलखन, *पूर्वोक्त,* पृ॰ 366–367
13. सिंह, प्रताप, *पूर्वोक्त,* पृ॰ 28
14. शुक्ल, रामलखन, *पूर्वोक्त,* पृ॰ 367
15. शर्मा, के॰एल॰, *पूर्वोक्त,* पृ॰ 197
16. महाजन विद्याधर, *पूर्वोक्त,* पृ॰ 674–675
17. गथिया, जोसेफ, *पूर्वोक्त,* पृ॰ 43